यही कारण है कि जब मेरठ पुलिस प्रेमी युगलों को गांधी पार्क में बेइज्ज़त करते हुए पीट रही थी, तो कुछ लोग ऐसे भी थे, जो कह रहे थे कि 'हाँ साहब! इन लौण्डे-लौण्डियों ने तो हद ही कर दी थी!'; यही कारण है कि जब खुशबू ने विवाहपूर्व सेक्स पर अपने निजी विचार व्यक्त किये तो उन लोगों ने भी कोर्ट में उन पर चप्पल और सड़े अण्डे फेंके जिन्होंने खुशबू के नाम पर वहाँ मन्दिर बनवा रखा है; यही कारण है कि जब कोई प्रेमी युगल मेरठ या हरियाणा से फरार हो जाता है तो उन्हें खोजकर, काटकर सरेआम पेड़ पर लटका दिया जाता है।

इसके ख़िलाफ़ व्यक्तिगत विद्रोह तो होते हैं; कई नौजवान विद्रोह-स्वरूप समाज के तौर-तरीकों के विरुद्ध अपनी जीवनशैली को बदलकर कुछ कदम उठाते हैं। लेकिन ऐसी कोई चिन्ता नहीं दिख रही है कि भारतीय समाज में ऐसे अजनतांत्रिक माहौल में जी पाना सम्भव कैसे होगा? आखिर हिन्दुस्तान ऐसा समाज कब बनेगा जिसमें हर व्यक्ति को अपनी मर्ज़ी से जीने का हक़ होगा?

यह देश भी ऐसा है जहाँ इन रूढ़ियों और ढकोसलों को तोड़ने के लिए कदम उठाने पर किसी बुद्धिजीवी को ब्रूनो की तरह जलाया नहीं जाएगा या गैलीलियो की तरह जेल में नहीं डाल दिया जाएगा। लेकिन यहाँ के वामपंथी बुद्धिजीवी तक ऐसे हैं कि ब्राम्हण बुलाकर द्वार-पूजा, कन्यादान, गृह प्रवेश आदि कराते हैं। जिस देश के जनपक्षधर होने का दावा करने वाले लेखक और बुद्धिजीवी तक इतने दकियानूस, कायर, गलीज, पतित, पाखण्डी और ढोंगी हों, उनके मुँह से लोर्का, गोर्की, हिकमत, न्यूगी, और नेरूदा का नाम सुनकर शरीर में शर्म से चुनचुनी होने लगती है।

जनवाद का अर्थ महज किसी से प्यार और सरोकार रखना नहीं होता है। इसका अर्थ होता है कि दुश्मन की भी मानवीय गरिमा का सम्मान करना। यहाँ वाल्तेयर और दिदेरो के प्रकरण का ज़िक्र किया जा सकता है, जो एशियाई निरंकुशता और जनवाद की भावना के बीच के फर्क को साफ़ कर देता है। जब चर्च दिदेरो की किताबें जला रहा था, तो वाल्तेयर ने दिदेरो के समर्थन में आते हुए कहा, "मैं तुम्हारे विचारों से कतई सहमत नहीं हूँ दिदेरो। लेकिन तुम अपनी बात कह सको, इसके लिए मैं अपनी जान भी दे सकता हूँ।" और यहाँ किसी बात पर असहमत होने पर पीटा जाता है, जान ले ली जाती है, बेइज़्ज़त किया जाता है, और सड़े अण्डे और चप्पलें फेंकी जाती हैं।

लेकिन क्या यह सूरत बदली जा सकती है? क्या भारत में भी ऐसा समाज बनाया जा सकता है, जहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की मानवीय गरिमा, उसके विचारों का सम्मान करता हो; जहाँ प्रेम करने पर प्रेमी युगलों को गंड़ासे से काटकर टाँगा न जाता हो? जी हाँ, इतिहास के इस बोझ को उतार फेंकना नामुमकिन होता तो यह लेख लिखना महज एक बौद्धिक शगल होता। अब सवाल यह है कि यह कैसे हो सकता है?

जवाब एक ही है। ऐसा समाज बनाने और ऐसी संस्कृति बहाल करने का काम नौजवान ही करेगा। ऐसा समाज एक सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति के जरिये ही आ सकता है। लेकिन इस तथ्य पर बल देते हुए यह भी याद रखना होगा कि सांस्कृतिक

(पेज 44 पर जारी)

विश्व पटल पर

इराक़ी नागरिकों पर अमेरिका के एक और वहशियाना जुल्म का खुलासा

● पवन

अभी दुनिया अमेरिकी और ब्रिटिश सेना अधिकारियों द्वारा इराक़ी कैदियों पर किए गए अमानवीय जुल्मों की तस्वीरों को भूल भी नहीं पाई थी कि अमेरिका के वहशीपन की एक नई मिसाल का खुलासा हो गया। दुनिया भर में "जनतंत्र, मानवाधिकारों आदि के इस महानतम रक्षक" का यह नया कारनामा भी दिल दहला देने वाला है। जिन रासायनिक और जैविक हथियारों की खोज करने के नाम पर अमेरिका इराक़ में घुसा था, वे तो कहीं नहीं मिले; हाँ, यह रहस्य ज़रूर खुल गया कि रासायनिक हथियारों को ढूँढने के लिए इराक़ पर हमला करने वाले अमेरिका ने इराक़ी बच्चों, महिलाओं और पुरुषों पर जमकर रासायनिक हथियारों का इस्तेमाल किया।

यह रहस्योद्घाटन इटली के सरकारी टीवी कार्यक्रम के दौरान 22 नवम्बर को एक डॉक्यूमेंट्री फिल्म द्वारा किया गया। इटली के एक भूतपूर्व नौसेना अधिकारी जेफ एंगेलहार्ट ने इस डॉक्यूमेंट्री में सफेद फास्फोरस बमों के इस्तेमाल और उनकी विनाशक क्षमता का ब्यौरा दिया। उन्होंने बताया कि उन्होंने खुद बमबारी के बाद बच्चों और महिलाओं के जले हुए शरीरों को देखा था। उन्होंने कहा, "मैंने देखा कि बच्चों और महिलाओं के शरीर जलकर झुलस गए हैं। सफेद फास्फोरस किसी को नहीं बख़्शता। बम फूटने के बाद वायुमण्डल में एक बादल-सा छा जाता है और 150 मीटर के दायरे में हरेक आदमी और जानवर को भस्म कर डालता है। यह तब तक जलता है जब तक कि यह ख़त्म न हो जाए। यह इतना घातक होता है कि हड्डियों तक को एकदम जला डालता है।"

तस्वीरें दिखाए जाने के कारण अमेरिकी साम्राज्यवादी लफ़्फ़ाज़ इस बात से सीधे तो मुकर नहीं सकते थे। इसलिए अमेरिकी सेना की पत्रिका 'फील्ड आर्टिलरी' के मार्च 2005 के अंक के एक लेख में सफेद फास्फोरस की बात स्वीकारी गई लेकिन साथ में पेण्टागन से जारी सरकारी बयान में यह झूठ गढ़ दिया गया कि इसका इस्तेमाल एक पारम्परिक युद्ध सामग्री के रूप में हुआ और इसका इस्तेमाल रात के समय दुश्मनों के ठिकानों का पता लगाने के लिए रोशनी करने के लिए किया गया था न कि दुश्मन के सिपाहियों पर। पहले तो पेण्टागन सफेद फास्फोरस के इस्तेमाल पर अनभिज्ञ बन रहा था, फिर उसे मानना पड़ा, फिर उसने हेकड़ी दिखाते हुए कहा कि अमेरिका ने युद्ध में ऐसे किसी भी हथियार का इस्तेमाल नहीं किया जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रतिबन्धित हो। ऐसा उसने इसलिए भी कहा क्योंकि 1980 में हुए एक समझौते के अनुसार सघन आबादी वाले क्षेत्रों में सफेद फास्फोरस के प्रयोग पर पाबन्दी लगा दी गई थी, ब्रिटेन ने तो इस पर दस्तख़त कर दिये थे लेकिन अमेरिका ने नहीं किये थे।

युद्ध में इराक़ी जनता पर रासायनिक हथियारों का इस्तेमाल अमेरिकी वहशियों के लिए कोई नई बात नहीं थी। इससे पहले वियतनाम में भी अमेरिका में सैकड़ों रासायनिक हथियारों का प्रयोग किया था। नापाम बम, एजेण्ट ऑरेंज जैसे तमाम प्रतिबन्धित हथियारों का अमेरिका ने वियतनाम में प्रयोग किया था। एजेण्ट ऑरेंज एक ज़हर होता है जो 28 किस्म की बीमारियों को पैदा करता है। यह डाईऑक्सिन होता है। वियतनाम में उस समय 500,000 लोग इस ज़हर के इस्तेमाल से मरे थे और 650,000 लोगों में अभी भी इस ज़हर से पैदा हुए मानसिक और शारीरिक विकार पाए जाते हैं। इससे पहले जापानी जनता पर नाभिकीय हमला जिसका कोप वह अभी तक भोग रही है, भी अमेरिकी बर्बरता की एक मिसाल है। कोरिया में अमेरिका ने जो ताण्डव मचाया था वह भी किसी से छिपा नहीं है।

युद्ध में घातक रासायनिक हथियारों के इस्तेमाल के बाद इराक़ी जनता के भीतर लगातार पनपते आक्रोश को दबाने के लिए जुल्म, अत्याचार, दमन और उत्पीड़न की कोई कसर अमेरिकी बर्बरों ने नहीं छोड़ी है। इराक़ की अबू गरेब जेल और ग्वान्तानामो बे जेल वे नाम हैं जो मानवता को शर्मसार कर देने वाली यातनाओं से पहचाने जाने लगे हैं। लेकिन लगातार जारी इराक़ी जनसंघर्ष को दबाने में अमेरिकी साम्राज्यवादी नाकाम रहे हैं। उल्टे यह प्रतिरोध अमेरिका के लिए नाक की फुंसी बन गया है। अमेरिका इराक़ में कुछ उसी तरह फँस गया है जैसे वियतनाम में फँसा था। गले की हड्डी, न निगलते बने न उगलते। इराक़ ही क्यों, पूरा अरब क्षेत्र अमेरिका के ख़िलाफ़ नफ़रत की आग में धधक रहा है और इस बात की उम्मीद की जा सकती है कि अरब अमेरिका के लिए इक्कीसवीं सदी का वियतनाम बन जाएगा।

आज भले ही विश्व पटल पर ये साम्राज्यवादी एकजुट दिखलाई पड़ रहे हों, लेकिन ये जनता के आक्रोश और गुस्से के बारूद को फटने से रोक नहीं पाएँगे। इनके जुल्म और अत्याचारों से त्रस्त दुनिया की अवाम चाहे वह इराक़ी हो, फ़िलिस्तीनी हो या लातिन अमेरिकी, वह अपने मुक्ति संघर्षों के कारवाँ के सैलाब को एक प्रचण्ड तूफान में ज़रूर बदलेगी जिसमें मानवता के हत्यारों के हथियारों के बड़े से बड़े जखीरे तहस-नहस हो जाएँगे।

'इण्डियन आइडल' या 'इण्डियन ईडियट'

(पेज 6 से जारी)

भी ग़ज़ब तरीके से होती है। एक रहस्यमय, गाढ़ी सी पृष्ठभूमि के आगे एक अजीबो-गरीब फिल्मी स्टाइल में हुलिया बनाए कोई व्यक्ति आता है (जो खुद अपराधी ज्यादा लगते हैं) और पता नहीं कैसी घटिया सी आवाज़ बनाकर बोलना शुरू करते हैं, कि भयंकर जुगुप्सा पैदा होती है। लेकिन सबसे गम्भीर बात तो यह है कि किसी भी प्रकार के अपराध के ब्यौरे को कुछ इस तरह पेश किया जाता है कि वह मनोरंजक बन जाए, अक्सर अपराध को नाटक के तौर पर पर्दे पर उतारा जाता है। एक दूसरे को पीछे छोड़ने की होड़ में ये चैनल किसी भी हद तक नीचे गिरने को तैयार हैं। जैसा कि मीडिया की दुनिया में एक कहावत चलती है, समाचार चैनलों की दुनिया तीन 'सी' के बूते चल रही है—क्रिकेट, क्राइम, सिनेमा। राजनीति में जनता की दिलचस्पी ख़त्म होती जा रही है। ऐसे में बेचने को कुछ तो चाहिए ही। तो अपराध से बेहतर माल और क्या हो सकता है? एक चैनल ने हत्या, बलात्कार, और डकैती जैसे मामलों पर एक गेम शो ही बना दिया है। इस कार्यक्रम में आपको वारदात दिखलाई जाती है और फिर पूछा जाता है कि मुजरिम कौन है? अगर आपने सही गेस मारा तो बस, गिफ्ट हैम्परों की बरसात। यानी अपनी अमानवीयता और संवेदनहीनता में अब ये चैनल दर्शकों को भी भागीदार बना रहे हैं। इस तरह की घटनाएँ अब चिन्ता या दुख का विषय नहीं होंगी बल्कि सट्टेबाजी का विषय बन जाएँगी। उसी तरह एक ट्रेण्ड है मानवीय त्रासदी की घटनाओं को 'रियैलिटी शो' के रूप में पेश करना। हाल ही में एक चैनल ने पूरे गुड़िया प्रकरण को इसी तरह पेश किया था। उसके बाद एक वृद्धा को उसके बेटे और बहू द्वारा दस साल तक बन्दी बनाकर रखने के मामले को भी इसी रूप में पेश किया गया। इस प्रकार के तरीकों से मनोरंजन की आदत डालकर मीडिया लोगों को परपीड़न सुख का आदी बना रहा है। ऊपर से तो आदमी 'उफ! उफ!' करता है, लेकिन अन्दर ही अन्दर एक ख़ास तरह की गुदगुदी और सनसनी का भी अनुभव करता है।

यह संस्कृति तेज़ी से फैल रही है और यह बेहद चिन्ता का विषय है। मीडिया की भूमिका हर जगह मूक दर्शक की भी नहीं है, बल्कि अपराध को बेचने और उसका मज़ा लेने वाली की है। लोगों को बताया जा रहा है कि यह मत सोचो कि तुम्हारी ज़िन्दगी की समस्याएँ क्या हैं, 22 करोड़ बेरोज़गारों का क्या होगा, या भुखमरी से मरते बच्चों का क्या होगा; यह सोचो कि अमिताभ की बीमारी क्या है, गांगुली को टीम में लेना चाहिए या नहीं। यानी या तो सोचो मत या प्रायोजित ढंग से सोचो!

ऐसे अपसंस्कृति और संवेदनहीनता के घटाटोप में यह सोचना होगा कि स्वस्थ, संवेदनशील और जनपक्षधर संस्कृति के कारगर विकल्प कैसे तैयार किए जाएँ और संवेदनशीलता की हत्या के हर प्रयास को अपने सांस्कृतिक माध्यमों से बेकार किया जाय।

नया वर्ष

जीवन, संघर्ष और सृजन के नाम

स्वप्नों, संकल्पों और

आशाओं के नाम!